15. गद्य साहित्य का आविर्भाव

• आचार्य रामचंद्र शुक्ल

लेखक परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म सन् 1884 में अगौना ग्राम में हुआ। हिंदी–आलोचना के आधार–स्तंभ, आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुआयामी है। वे एक साथ ही साहित्येतिहासकार, मूर्धन्य हिंदी–काव्यशास्त्री, श्रेष्ठ पाठालोचक तथा उच्चकोटि के निबंधकार हैं। यही नहीं वे वरेण्य कवि–साहित्यकार के समानांतर प्रामाणिक अनुवादक भी हैं।

जब काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खुला तब महामना मालवीय जी ने बाबू श्यामसुंदर दास को उस विभाग का अध्यक्ष बनाया तथा आचार्य शुक्ल को प्राध्यापक के पद पर नियुक्त किया। शुक्ल जी कम आयु में ही पुस्तकें लिखने लगे थे, आर्थिक कठिनाई के कारण जो पुस्तक वे लिखते थे उसे नागरी प्रचारिणी सभा को एक ही बार द्रव्य लेकर दे देते थे।

यद्यपि शुक्ल जी की शिक्षा इंटर तक ही हुई थी किंतु वे महान प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनके समान समालोचक, निबंधकार तथा गद्य लेखक दुर्लभ है। उनकी तुलसी, जायसी तथा सूर की समालोचना, हिंदी साहित्य का इतिहास तथा चिंतामणि में संगृहीत उनके निबन्ध अप्रतिम हैं। आचार्य जी मुख्यतः गद्य के महान लेखक थे। किन्तु उन्होंने 'लाइट ऑफ एशिया' नामक पुस्तक का ब्रजभाषा में अनुवाद करके 'बुद्धचरित' जैसी महान कृति का सृजन किया। उन्होंने बंगला भाषा के ऐतिहासिक उपन्यास 'शशांक' का हिंदी में अनुवाद किया।

पाठ परिचय

प्रस्तुत पाठ आचार्य शुक्ल की कृति 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के आधुनिक काल (सं० 1900 से 1970) के द्वितीय प्रकरण 'गद्य साहित्य का आविर्भाव' से लिया गया है। गद्य साहित्य लेखन के उस संक्रमण काल की परिस्थितियों के प्रति आचार्य शुक्ल की सूक्ष्म दृष्टि का ज्ञान होने के साथ–साथ तत्कालीन साहित्यिक घटनाओं की जानकारी प्राप्त होती है। पाठ में उस समय की शिक्षोपयोगी पुस्तकें, राजा शिवप्रसाद की भाषा, राजा लक्ष्मण सिंह के अनुवादों की भाषा, फ्रेडरिक पिंकाट का हिंदी प्रेम, बाबू नवीनचन्द राय की हिंदी सेवा, हिंदी गद्य प्रसार में आर्य समाज का योगदान, पंडित श्रद्धाराम की हिंदी सेवा आदि की जानकारी समेटने का प्रयत्न हुआ है। भारतेंदु से पूर्व हिंदी गद्य की दिशा तय होने के साथ गद्य भाषा के स्वरूप निर्माण पर रोचक शैली में प्रकाश डाला गया है। इस काल–खंड को गद्य साहित्य की प्रसव पीड़ा के काल के रूप में जाना जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने यहाँ एक चेतावनी भी दे डाली है कि भारतीय भाषाओं को संस्कृत के दूर करना और विदेशी शब्दों की घुसपैठ स्वस्थ परंपरा नहीं है।

मूल पाठ

किस प्रकार हिंदी के नाम से नागरी अक्षरों में उर्दू ही लिखी जाने लगी थी, इसकी चर्चा 'बनारस अखबार' के संबंध में कर आए हैं। संवत् 1913 में अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षाविभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए। उस समय और दूसरे विभागों के समान शिक्षाविभाग में भी कुछ लोगों के मन में 'भाषापन' का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात

से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिये 'भाखा' संस्कृत से लगाव रखनेवाली 'हिंदी' न सीखनी पड़े। अतः उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालती कामों में उर्दू ही काम में लाई जाती है तब एक और जबान का बोझ डालने से क्या लाभ ? 'भाखा' में हिंदुओं की कथावार्त्ता आदि कहते सुन वे हिंदी को 'गँवारी' बोली भी कहा करते थे। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद को हिंदी की रक्षा के लिये बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। हिंदी का सवाल जब आता तब कुछ लोग उसे 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करते। अतः राजा साहब के लिये उस समय यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिंदी का आश्रय लिया जाय जिसमें कुछ फारसी अरबी के चलते शब्द भी आएँ। उस समय साहित्य के कोर्स के लिए पुस्तकें नहीं थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तकें तैयार करने में लग ही गए, पंडित श्रीलाल और पंडित वंशीधर आदि अपने कई मित्रों को भी उन्होंने पुस्तकें लिखने में लगाया। राजा साहब ने पाठ्यक्रम में उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं – जैसे राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों का कीड़ा इत्यादि।

पं. बद्रीलाल ने डाक्टर बैलेटाइन के परामर्श के अनुसार सं. 1919 में 'हितोपदेश' का अनुवाद किया जिसमें बहुत सी कथाएँ छाँट दी गई थीं। उसी वर्ष सिद्धांतसंग्रह (न्यायशास्त्र और 'उपदेश पुष्पावती') नाम की दो पुस्तकें निकली थीं।

'मानवधर्मसार' की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं। प्रारंभ काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे जिसमें सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबी फारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में जो साहित्य की पाठ्यपुस्तक थी उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् 1917 के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अंगरेज अधिकारियों का रुख देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे। जो हो, संवत् 1917 के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिलकुल उर्दूपन लिए हैं।

राजा साहब ने अपने इस उर्दू वाले पिछले सिद्धांत का 'भाषा का इतिहास' नामक जिस लेख में निरूपण किया है, वही उनकी उस समय की भाषा का एक खास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है –

''हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम फहम और खासपसंद हों अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े–लिखे, आलिमफाजिल, पंडित, विद्वान् की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैरमुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए–नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई और खास जरूरत साबित हो जाय।''

भाषा संबंधी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक ठीक है, पाठक आप समझ सकते हैं। 'आमफहम', 'खासपसंद', 'इल्मी जरूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं है। फारसी के 'आलिमफाजिल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हों पर संस्कृत हिंदी के पंडित विद्वान् तो ऐसे शब्दों से कोसों दूर हैं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति परंपरा से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रवृत्ति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप रंग, आचार व्यवहार आदि का योग रहता है उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों में थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर रूप हजारों वर्षों से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूपरंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था। यह प्रकृति विरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगों को होगी, पर असली हिंदी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मणसिंह ही आगे बढ़े। उन्होंने संवत् 1918 में 'प्रजाहितैषी' नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और 1919 में 'अभिज्ञानशाकुंतल' का अनुवाद बहुत ही सरल और विशुद्ध हिंदी में प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँखें खुलीं। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी –

''अनसूया – (हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ? क्या कारन है ? जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है ?''

यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रसिक शब्द लिए हुए है। 'रघुवंश' के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मणसिंह जी ने भाषा के संबंध में अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है।

हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं उर्दू में अरबी पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी, पारसी के शब्द भरे हों।

अब भारत की देशभाषाओं के अध्ययन की ओर इंग्लैंड के लोगों का भी ध्यान अच्छी तरह जा चुका है। उनमें जो अध्ययनशील और विवेकी थे, जो अखंड भारतीय साहित्य परंपरा और भाषा परंपरा से अभिज्ञ हो गए थे, उन पर अच्छी तरह प्रकट हो गया था कि उत्तरीय भारत की असली स्वाभाविक भाषा का स्वरूप क्या है। इन अँगरेज विद्वानों में फ्रेडरिक पिंकाट का स्मरण हिंदी प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए। इनका जन्म संवत् 1893 में इंग्लैंड में हुआ। उन्होंने प्रेस के कामों का बहुत अच्छा अनुभव प्राप्त किया और अंत में लंदन की प्रसिद्ध एलन ऐंड कंपनी (W.H. Allen and Co. 13 Waterloo place, pall Mall, S.W.) के विशाल छापेखाने के मैनेजर हुए।

वहीं वे अपने जीवन के अंतिम दिनों के कुछ पहले तक शांतिपूर्वक रहकर भारतीय साहित्य और भारतीय जनहित के लिए बराबर उद्योग करते रहे।

संस्कृत की चर्चा पिंकाट साहब लड़कपन से ही सुनते आते थे, इससे उन्होंने बहुत परिश्रम के साथ उसका अध्ययन किया। इसके उपरांत उन्होंने हिंदी और उर्दू का अभ्यास किया। इंगलैंड में बैठे ही बैठे उन्होंने इन दोनों भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनमें लेख और पुस्तकें लिखने और अपने प्रेस में छापने लगे। यद्यपि उन्होंने उर्दू का भी अच्छा अभ्यास किया था, पर उन्हें इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो गया था कि यहाँ की परंपरागत प्राकृत भाषा हिंदी है, अतः जीवन भर ये उसी की सेवा और हितसाधना में तत्पर रहे। उनके हिंदी लेखों, कविताओं और पुस्तकों की चर्चा आगे चलकर भारतेंदु काल के भीतर की जाएगी।

संवत् 1947 में उन्होंने उपर्युक्त ऐलन कंपनी से संबंध तोड़ा और गिलबर्ट ऐंड रिबिंगटन (Gillbert and Rivington Clerkenwell Londan) नामक विख्यात व्यवसाय कार्यालय में पूर्वीय मंत्री (Orient Adviser and Expert) नियुक्त हुए। उक्त कंपनी की ओर से एक व्यापारपत्र 'आईन सौदागरी' उर्दू में निकलता था जिसका संपादन पिंकाट साहब करते थे। उन्होंने उसमें कुछ पृष्ठ हिंदी के लिए भी रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के लेख वे ही लिखते थे। लेखों के अतिरिक्त हिंदुस्तान में प्रकाशित होने वाले हिंदी समाचार पत्रों (जैसे हिंदोस्तान, आर्यदर्पण, भारतमित्र) से उद्धरण भी उस पत्र के हिंदी विभाग में रहते थे।

भारत का हित वे सच्चे हृदय से चाहते थे। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि हिंदी लेखकों से उनका बराबर हिंदी में पत्रव्यवहार रहता था। उस समय के प्रत्येक हिंदी लेखक के घर में पिंकाट साहब के दो चार पत्र मिलेंगे। हिंदी के लेखकों और ग्रंथकारों का परिचय इंगलैंडवालों को वहाँ के पत्रों में लेख लिखकर वे बराबर दिया करते थे। संवत् 1957 (नवंबर सन् 1895) में वे रीआ घास (जिसके रेशों से अच्छे कपड़े बनते थे) की खेती का प्रचार करने हिंदुस्तान में आए, पर साल भर से कुछ ऊपर ही यहाँ रह पाए थे कि लखनऊ में उनका देहांत (7 फरवरी, 1896) हो गया। उनका शरीर भारत की मिट्टी में ही मिला।

संवत् 1919 में जब राजा लक्ष्मण सिंह ने 'शकुंतला नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देख वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उनका एक बहुत सुंदर परिचय उन्होंने लिखा। बात यह थी कि यहाँ के निवासियों पर विदेशी प्रकृति और रूपरंग की भाषा का लादा जाना वे बहुत अनुचित समझते थे। अपना यह विचार उन्होंने अपने उस अँगरेजी लेख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जो उन्होंने बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के 'खड़ी बोली का पद्य' की भूमिका के रूप में लिखा था। देखिए, उसमें वे क्या कहते हैं –

फारसी मिश्रित हिंदी (अर्थात् उर्दू या हिंदुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उनकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिये विवश किये जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठ्यपुस्तक 'गुटका' में भाषा का आदर्श हिंदी ही रखा। उक्त गुटका में उन्होंने 'राजा भोज का सपना', 'रानी केतकी की कहानी', के साथ ही राजा लक्ष्मणसिंह के 'शकुंतला नाटक' का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् 1924 में प्रकाशित हुआ था।

संवत् 1919 और 1924 के बीच कई संवाद पत्र हिंदी में निकले 'प्रजाहितैषी' का उल्लेख हो चुका है। संवत् 1920 में 'लोकमित्र' नाम का एक पत्र ईसाईधर्म प्रचार के लिये आगरे (सिकंदरे) से निकला था जिसकी भाषा शुद्ध हिंदी होती थी। लखनऊ में जो 'अवध अखबार' (उर्दू) निकलने लगा था उसके कुछ भाग में हिंदी के लेख भी रहते थे।

जिस प्रकार इधर संयुक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद शिक्षाविभाग में रहकर हिंदी की किसी न किसी रूप में रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय महाशय कर रहे थे। संवत् 1920 और 1937 के बीच नवीन बाबू ने भिन्न–भिन्न विषयों की बहुत सी हिंदी पुस्तकें तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराई। ये पुस्तकें बहुत दिनों तक वहाँ कोर्स में रहीं। पंजाब में स्त्री शिक्षा का प्रचार करने वालों में ये मुख्य थे। शिक्षा–प्रचार के साथ–साथ समाज सुधार आदि के उद्योग में भी बराबर रहा करते थे। अंग्रेजों के प्रभाव को रोकने के लिए किस प्रकार बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई थी, उसका उल्लेख पहले हो चुका है। नवीनचंद्र ने ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से समय–समय पर कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। संवत् 1924 (मार्च सन् 1837) में उनकी 'ज्ञानदायिनी पत्रिका' निकली जिसमें शिक्षासंबंधी तथा साधारण ज्ञान विज्ञानपूर्ण लेख भी रहा करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा विभाग द्वारा जिस हिंदी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए वह शुद्ध हिंदी गद्य था। हिंदी को उर्दू के झमेले में पड़ने से ये सदा बचाते रहे। इलाहाबाद इंस्टीट्यूट के एक अधिवेशन संवत् 1925 में जब यह विवाद हुआ था 'देशी जबान' हिंदी को माने या उर्दू को, तब हिंदी के पक्ष में कई वक्ता उठकर बोले थे। उन्होंने कहा था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का यह फल हुआ है कि अधिकांश जनता विशेषतः गाँवों की जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित, बहुत कष्ट उठाती है इससे हिंदी के जारी होना बहुत आवश्यक है। इस पर गार्सां द तासी ने हिंदी के पक्ष में बोलने वालों का उपहास किया था।

उसी काल में इंडियन डेली न्यूज के एक लेख में हिंदी प्रचलित किए जाने की आवश्यकता दिखाई गई थी। उसका भी जवाब देने तासी साहब खड़े हुए थे। 'अवध अखबार' में जब एक बार हिंदी के पक्ष में लेख छपा था तब भी उन्होंने संपादक की राय का जिक्र करते हुए हिंदी को एक 'भद्दी बोली' कहा था जिसके अक्षर भी देखने में सुडौल नहीं लगते।

शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ मतमतांतर संबंधी आंदोलन देश के पश्चिमी भागों में भी चल पड़े। इसी के साथ दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् 1920 से उन्होंने अनेक नगरों में घूम–घूम कर व्याख्यान देना आरंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश में बहुत दूर–दूर तक प्रचलित साधु हिंदी भाषा में ही होते थे। स्वामीजी ने अपना 'सत्यार्थप्रकाश' तो हिंदी या आर्यभाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिंदी दोनों में किए। स्वामी जी के अनुयायी हिंदी को 'आर्यभाषा' कहते थे। स्वामीजी ने संवत्

1922 में 'आर्यसमाज' की स्थापना की और सब आर्यसमाजियों के लिये हिंदी या आर्यभाषा को पढ़ना आवश्यक ठहराया। संयुक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्यसमाज के प्रभाव से हिंदी गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली में लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क से पंजाबवालों की लिखने–पढ़ने की भाषा उर्दू ही रही थी। आज जो पंजाब में हिंदी की पूरी चर्चा सुनाई देती है, इन्हीं की बदौलत है।

संवत् 1910 के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई। पंडित श्रद्धारामजी संवत् 1912 में कपूरथला पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पंजाब के सब छोटे–बड़े स्थानों में घूमकर पंडित श्रद्धारामजी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। उनकी कथाएँ सुनने के लिए दूर–दूर से लोग आते और सहस्रों आदमियों की भीड़ लगती थीं। उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत जोरदार होती थी। स्थान–स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। उन्होंने पंजाबी और उर्दू में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। पर अपनी मुख्य पुस्तकें हिंदी में ही लिखी हैं। अपना सिद्धांतग्रंथ 'सत्यामृतप्रवाह' उन्होंने बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेदशास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातों का विरोध वे बराबर करते रहे। यद्यपि वे बहुत सी बातें कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंधविश्वासियों को खटक जाती थीं और कुछ लोग इन्हें नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक वे जीवित रहे सारे पंजाब के हिंदू उन्हें धर्म का स्तंभ समझते रहे।

पंडित श्रद्धारामजी कुछ पद्यरचना भी करते थे। हिंदी गद्य में तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिंदी भाषा के प्रचार में बराबर लगे रहे। संवत् 1924 में उन्होंने 'आत्मचिकित्सा' नाम की एक अध्यात्म संबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् 1928 में हिंदी में अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे तत्त्वदीपक, धर्मरक्षा, 'उपदेशसंग्रह' (व्याख्यानों का संग्रह), 'शतोपदेश' (दोहे) इत्यादि संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपना एक बड़ा जीवनचरित्र (1400 पृष्ठ के लगभग) लिखा था जो कहीं खो गया। 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् 1934 में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

अपने समय के वे एक सच्चे हिंदी हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। संवत् 1938 में उनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उसके मुंह से सहसा निकला कि 'भारत में भाषा के लेखक दो हैं – एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जायगा।' कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था।

राजा शिवप्रसाद 'आमफहम' और 'खासपसंद' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिंदी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात में धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिंदी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर स्वभावतः जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओं का साहित्य चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अतः गद्य के नीवन

विकास में उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था ? जब कि बँगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिंदी गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता ? सामान्य संबंधसूत्र को त्यागकर दूसरी देशी भाषाओं से अपना नाता हिंदी कैसे तोड़ सकती थी ? उनकी सगी बहन होकर एक अजनबी के रूप में उनके साथ वह कैसे चल सकती थी। जबकि यूनानी और लैटिन के शब्द योरप के भिन्न–भिन्न मूलों से निकली हुई देशी भाषाओं के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब तक ही मूल से निकली हुई आर्य भाषाओं के बीच उस मूल भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंधसूत्र के रूप में चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

कुछ अंगरेज विद्वान् संस्कृतगर्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिए किसी अँगरेजी वाक्य में उसी भाषा में लैटिन के शब्द भरकर पेश करते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि अँगरेजी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है, पर हिंदी, बँगला, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं – उसी के प्राकृत रूपों से निकली हैं। इन आर्य भाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत की परंपरा का विस्तार कह सकते हैं। देशभाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की इस धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी ?

राजा लक्ष्मण सिंह के समय से ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपने प्रतिभा और सद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।

•••

शब्दार्थ

जबान–वाणी, भाषा/ गुटका–छोटे आकार की पुस्तक/ सरस–रस सहित, रस युक्त/ प्राक्कथन–पूर्व कथन, भूमिका/ कुठार–कल्हाड़ी, फरसा/ नागरी–देवनागरी लिपि/ आर्यभाषा–संस्कृत से उत्पन्न आधुनिक भारतीय भाषाएँ/ वक्तृता–बोलने की शैली/ नास्तिक–ईश्वर में विश्वास न रखने वाला/ कुटुंब–परिवार/ उद्भावना–कल्पना, उत्पत्ति/ परिमार्जित–साफ, परिष्कृत/ अभिज्ञ–जानकार।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'राजा भोज का सपना' कहानी के कहानीकार कौन थे ?

(क) राजा शिवप्रसाद (ख) राजा लक्ष्मणसिंह ( )

(ग) भारतेन्दु (घ) श्रद्धाराम फुल्लौरी

2. राजा लक्ष्मणसिंह ने कौन सी पत्रिका निकाली ?

(क) कविवचन सुधा (ख) प्रजाहितैषी

(ग) बाला बोधिनी (घ) हिंदी प्रदीप ( )

उत्तरमाला– (1) क (2) ख

अतिलघूत्तरात्मक

1. कौन से विदेशी विद्वान हिंदी की हितसाधना में तत्पर रहे ?
2. पिंकाट साहब का देहांत कहाँ हुआ ?
3. राजा लक्ष्मणसिंह ने कौन सा नाटक लिखा ?
4. 'सत्यार्थप्रकाश' के रचयिता कौन थे ?
5. श्रद्धाराम फुल्लौरी द्वारा रचित उपन्यास कौन सा है ?

लघूत्तरात्मक

1. 'शकुंतला नाटक' की भाषा देखकर पिंकाट साहब प्रसन्न क्यों हुए ?
2. अपनी मृत्यु के अंतिम दिन श्रद्धाराम फुल्लौरी ने क्या कहा ?
3. 'हितोपदेश' का अनुवाद किसने किया ?
4. 'सत्यामृतप्रवाह' किसने लिखा ?

निबंधात्मक

1. स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा हिंदी भाषा के विकास में दिए गए योगदान पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. हिंदी भाषा के विकास में श्रद्धाराम फुल्लौरी के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
3. पिंकाट साहब कौन थे ? उन्होंने हिंदी भाषा को क्या योगदान दिया ?

•••

यह भी जानें

स्वन परिवर्तन

1. संस्कृतमूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी को ज्यों–का–त्यों ग्रहण किया जाए। अतः 'ब्रह्मा' को 'ब्रह्मा', 'चिह्न' को 'चिह्न', 'उऋण' को 'उरिण' में बदलना उचित नहीं होगा। इसी प्रकार ग्रहीत, द्रष्टव्य, प्रदर्शिनी, अत्याधिक अनाधिकार आदि अशुद्ध प्रयोग ग्राह्य नहीं हैं। इनके स्थान पर क्रमशः गृहीत, द्रष्टव्य, प्रदर्शनी, अत्यधिक, अनधिकार ही लिखना चाहिए।
2. जिन तत्सम शब्दों में तीन व्यंजनों के संयोग की स्थिति में एक द्वित्वमूलक व्यंजन लुप्त हो गया है उसे न लिखने की छूट है। जैसे – अर्द्ध > अर्ध, तत्व > तत्त्व आदि।

•••